

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की सबसे बड़ी विशेषता

-प्रो. वीरसागर जैन

स्याद्वादरूप जिनवाणी को समझना आसान कार्य नहीं है। उस पर भी उसे दूसरों को समझाना -यह तो और भी अधिक कुशलता की अपेक्षा रखता है; क्योंकि इस कार्य में संतुलन बनाये रखने की बहुत अधिक आवश्यकता रहती है जो बड़ा ही कठिन कार्य है। इसमें कभी-कभी तो बड़े-बड़े विद्वान् भी स्खलित हो जाते हैं।

स्याद्वादरूप जिनवाणी में सभी कथन सापेक्ष होते हैं। उनकी अपेक्षा समझना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य होता है। उसके बिना अर्थ का अनर्थ हो जाता है।

जिनवाणी में अनेक कथन तो परस्पर विरुद्ध भी प्रतीत होते हैं। ऐसी स्थिति में उन दोनों कथनों को भलीभाँति समझ लेना और समझा देना -दोनों ही कार्य अत्यधिक सावधानी और संतुलन की अपेक्षा रखते हैं।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमल कृत ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि वहाँ सर्वत्र इस संतुलन को बनाकर रखने का कठिन कार्य अत्यन्त सावधानीपूर्वक सम्पन्न होता दिखाई देता है और इसीलिए उसे पढ़ते समय पाठक की सारी उलझनें सहजतापूर्वक सुलझती जाती हैं।

इस ग्रन्थ में जान-बूझकर साधक जीवन की उलझनों को ढूँढ-ढूँढकर उठाया गया है और फिर उनकी समीचीन अपेक्षा बताते हुए उनका अमृतोपम समाधान प्रस्तुत किया गया है। ऐसा लगता है- मानो यह पूरा ही ग्रन्थ उलझनों को सुलझाने के लिए समर्पित हो गया है।

वस्तुतः जिनवाणी की शैली दो प्रकार की होती है- 1. आगमरूप और 2. अध्यात्मरूप। ये दोनों शैलियाँ यद्यपि एक-दूसरे की पूरक हैं तथापि सामान्य पाठक को अत्यन्त विरोधी प्रतीत होती हैं और वह इनमें बुरी तरह उलझ जाता है।

इसीप्रकार जिनवाणी में दो नयों से कथन किये गये हैं- (1) निश्चय नय से और (2) व्यवहार नय से। इनमें भी सामान्य पाठक को बड़ा भारी विरोध प्रतीत होता है और वह बड़ी उलझन में पड़ जाता है, अपनी उलझन को कैसे भी सुलझा नहीं पाता।

इसी प्रकार के और भी कुछ कारण हैं जिनसे जिनवाणी में सामान्य पाठक को यत्र-तत्र विरोध प्रतीत होता है और वह उलझन में, द्वन्द्व में उलझ जाता है।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ ऐसी समस्त उलझनों को स्वयं उठा-उठाकर उनका समुचित व सन्तुलित समाधान प्रस्तुत करता है और यही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

मैं समझता हूँ कि इसी विशेषता के कारण ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ को एक कालजयी कृति और उसके लेखक पं. टोडरमलजी को ‘आचार्यकल्प’ के विरुद्ध से विभूषित किया जाता है।

प्रस्तुत आलेख में 'मोक्षमार्गप्रकाशक' की इसी विशेषता को भलीभाँति स्पष्ट करने के लिए उसके कतिपय महत्त्वपूर्ण प्रकरणों की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। यथा-

१. अरिहंतादिक से लौकिक प्रयोजन-सिद्धि-

कुछ लोग कहते हैं कि अरिहंतादिक के स्तवनादि से कोई लौकिक प्रयोजन-सिद्धि नहीं होती और कुछ लोग लौकिक प्रयोजन के लिए ही अरिहंतादिक के स्तवनादि में प्रवृत्त होते हैं। मोक्षमार्गप्रकाशककार पं. टोडरमलजी ने इस सम्बन्ध में अत्यन्त संतुलित एवं तार्किक शैली से विस्तारपूर्वक यह स्पष्ट किया है कि अरिहंतादिक से लौकिक प्रयोजन-सिद्धि तो अवश्य होती है, नहीं होती हो- ऐसी बात नहीं है, किन्तु हमें लौकिक प्रयोजन-सिद्धि के लिए अरिहंतादिक के स्तवनादि में प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

'मोक्षमार्गप्रकाशक' का यह पूरा ही प्रकरण अत्यन्त रोचक एवं ध्यानपूर्वक पठनीय है, यहाँ उसे विस्तारभय से पूरा उद्धृत नहीं किया जा सकता, तथापि इस विषय की कतिपय महत्त्वपूर्ण पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं-

“जो अरहंतादिके प्रति स्तवनादिरूप विशुद्ध परिणाम होते हैं उनमें अघातिया कर्मों की साता आदि पुण्यप्रकृतियों का बन्ध होता है; और यदि वे परिणाम तीव्र हों तो पूर्वकाल में जो असाता आदि पापप्रकृतियों का बन्ध हुआ था उन्हें भी मन्द करता है अथवा नष्ट करके पुण्यप्रकृतिरूप परिणमित करता है; और उस पुण्य का उदय होने पर स्वयमेव इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्री प्राप्त होती है तथा पाप का उदय दूर होने पर स्वयमेव दुःख की कारणभूत सामग्री दूर हो जाती है। -इस प्रकार इस प्रयोजन की भी सिद्धि उनके द्वारा होती है। अथवा जिनशासन के भक्त देवादिक हैं वे उस भक्त पुरुष को अनेक इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं। -इस प्रकार भी इस प्रयोजन की सिद्धि उन अरहंतादिक द्वारा होती है। परन्तु इस प्रयोजन से कुछ भी अपना हित नहीं होता; क्योंकि यह आत्मा कषायभावों से बाह्य सामग्रियों में इष्ट अनिष्टपना मानकर स्वयं ही सुख-दुःख की कल्पना करता है। कषाय के बिना बाह्य सामग्री कुछ सुख-दुःख की दाता नहीं है। तथा कषाय है सो सर्व आकुलतामय है, इसलिए इन्द्रियजनित सुख की इच्छा करना और दुःख से डरना यह भ्रम है।

“पुनश्च, इस प्रयोजन के हेतु अरहंतादिक की भक्ति करने से भी तीव्र कषाय होने के कारण पापबन्ध ही होता है, इसलिए अपने को इस प्रयोजन का अर्थी होना योग्य नहीं है। अरहंतादिक की भक्ति करने से ऐसे प्रयोजन तो स्वयमेव ही सिद्ध होते हैं।” (पृष्ठ-07)

वाह, कितना सन्तुलित प्रतिपादन है!”

२. व्यंतरादि का स्वरूप-

भूत-प्रेत-व्यन्तरादि के संबंध में कुछ लोग कहते हैं कि वे होते ही नहीं; कुछ कहते हैं कि वे होते तो हैं पर किसी का भी कुछ भी नहीं करते, कर ही नहीं सकते और कुछ कहते हैं कि वे होते भी हैं और किसी का भी कुछ भी कर सकते हैं अतः उनको पूजादि द्वारा प्रसन्न रखना चाहिए।

मोक्षमार्गप्रकाशककार पं. टोडरमलजी ने उक्त सभी मान्यताओं का खण्डन करते हुए इस संबंध में भी अत्यन्त संतुलित शैली से आगमानुकूल कथन प्रस्तुत किया है। कहा है कि व्यन्तरादि होते अवश्य हैं और कदाचित् कथंचित् जीवों का भला-बुरा भी करते हैं परन्तु उनकी पूजादि करने से समस्या का समाधान नहीं होता।

उनका यह प्रकरण भी पूरा ही मूलतः पठनीय है जो पृष्ठ 169 से 173 तक तथा अन्यत्र भी तीन-चार स्थानों पर पाया जाता है परन्तु फिर भी इस विषय की कुछ पंक्तियाँ यहाँ द्रष्टव्य हैं-

1. “जिनशासन के भक्त देवादिक हैं वे उस भक्त पुरुष को अनेक इन्द्रियसुख की कारणभूत सामग्रियों का संयोग कराते हैं और दुःख की कारणभूत सामग्रियों को दूर करते हैं।” (पृष्ठ-7)
2. “कोई देवादिक किसी धर्मात्मा की सहाय करते हैं अथवा किसी अधर्मी को दण्ड देते हैं।” (पृष्ठ-9)
3. “व्यन्तरादिक देव कषायों से नगर-नाशादि कार्य करते हैं।” (पृष्ठ-276)

३. निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की स्वीकृति-

जैनदर्शन के अकर्तावाद सिद्धान्त को समझते समय अथवा दो द्रव्यों के बीच कर्ता-कर्म सम्बन्ध का निषेध करते समय प्रायः यह भूल हो जाती है कि उनमें जो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है उसका भी निषेध समझ लिया जाता है और जब उनका निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध समझाया जाता है तो लोग उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध ही समझ लेते हैं। यह एक बड़ी भारी समस्या है जिसमें बड़े-बड़े पाठक भी उलझे रहते हैं और इसी के कारण लोगों को अध्यात्मशास्त्र और निमित्तशास्त्रों का सम्यग्ज्ञान नहीं हो पाता है, वे बड़े ही असमंजस में पड़े रहते हैं।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ का एक-एक वाक्य इस विषय में भी अत्यन्त संतुलित एवं आगमानुकूल है। वहाँ दो द्रव्यों के बीच निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों को समझते समय कर्ता-कर्म सम्बन्ध न मानने की चेतावनी दी गई है और कर्ता-कर्म सम्बन्ध का निषेध करते समय उनमें निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की स्वीकृति भी कराई गई है। उदाहरणार्थ ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में यत्र-तत्र उपलब्ध होने वाले अनेक कथन यहाँ उद्धृत किये जा सकते हैं, परन्तु यहाँ अवकाश नहीं है। तथापि कतिपय महत्त्वपूर्ण वाक्य ध्यानपूर्वक द्रष्टव्य हैं-

“लोक में निमित्त-नैमित्तिक बहुत ही बन रहे हैं। जैसे मंत्रनिमित्त से जलादिक में रोगादि दूर करने की शक्ति होती है तथा कंकरी आदि में सर्पादि रोकने की शक्ति होती है; उसी प्रकार जीवभाव के निमित्त से, पुद्गलपरमाणुओं में ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होती है।” (पृष्ठ-29)

“द्रव्य इन्द्रिय तथा मनरूप परमाणुओं के परिणमन को और मतिज्ञान को निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, ज्ञान को और बाह्य द्रव्यों को भी निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध पाया जाता है। भूतादिक के निमित्त से नहीं जानना, थोड़ा जानना या अन्यथा जानना होता है। (पृष्ठ-33)

४. ज्योतिष-मन्त्रादि शास्त्रों की स्वीकृति-

कर्ता-कर्म और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों का समीचीन ज्ञान न होने के कारण ही बहुत-से स्वाध्यायी लोग भी ज्योतिष-मन्त्रादि शास्त्रों के सम्बन्ध में बड़ी अज्ञानता भरी बातें करते देखे जाते हैं। इतना ही नहीं, अनेक लोग तो ज्योतिष-मन्त्रादि शास्त्रों की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते हैं।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में इस विषय में भी बड़ा ही सन्तुलित एवं आगमानुकूल दृष्टिकोण अपनाया गया है। वहाँ इन सर्व शास्त्रों के यथावत् ‘अन्यूनमनतिरिक्तं’ स्वरूप की स्वीकृति एवं प्रस्तुति की गई है। मोक्षमार्गप्रकाशककार का स्पष्ट मानना है कि जिनागम में अनेक निमित्तशास्त्रों का भी ज्ञान कराया गया है और हमें उनका स्वरूप एवं प्रयोजन समझना चाहिए। यथा-

“तथा व्याकरण, न्याय, छन्द, कोषादिक शास्त्र व वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रादि शास्त्र भी जिनमत में पाये जाते हैं। उनका क्या प्रयोजन है सो सुनो।” (पृष्ठ-287)

काश, पं. टोडरमलजी जीवित रहते और हमें इन निमित्तशास्त्रों का स्वरूप एवं प्रयोजन और अधिक विस्तार से समझाते! बहरहाल, इस विषय की कतिपय पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं-

१. **ज्योतिषशास्त्र-** ग्रहादिक स्वयमेव गमादिक करते हैं, और प्राणी के यथासम्भव योग को प्राप्त होने पर सुख-दुःख होने के आगामी ज्ञान को कारण होते हैं। (पृष्ठ-173)

२. **मन्त्रशास्त्र-** जैसे मंत्रनिमित्त से जलादिक में रोगादि दूर करने की शक्ति होती है तथा कंकरी आदि में सर्पादि रोकने की शक्ति होती है, उसी प्रकार जीवभाव के निमित्त से पुद्गलपरमाणुओं में ज्ञानावरणादिरूप शक्ति होती है। (पृष्ठ-29)

“इतना है कि मन्त्रादिक की अचिन्त्य शक्ति है सो किसी सच्चे मन्त्र के निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध हो तो उसके किञ्चित् गमनादिक नहीं हो सकते व किञ्चित् दुःख उत्पन्न होता है व कोई प्रबल उसे मना करे तब रह जाता है व आप ही रह जाता है, इत्यादि मन्त्र की शक्ति है।”

(पृष्ठ-171)

३. **योगसाधना-** “वहाँ इड़ा, पिंगला, सुषुम्णा रूप नासिका द्वार से पवन निकले वहाँ वर्णादिक भेदों से पवन ही की पृथ्वी तत्त्वादि रूप कल्पना करते हैं। उसके विज्ञान द्वारा किञ्चित् साधना से निमित्त का ज्ञान होता है। इसलिए जगत् को इष्ट-अनिष्ट बतलाते हैं। (पृष्ठ-120)

“तथा ऐसे साधन से किञ्चित् अतीत-अनागतादिक का ज्ञान हो, व वचनसिद्धि हो, व पृथ्वी-आकाशादि में गमनादिक की शक्ति हो, व शरीर में आरोग्यतादिक हो तो यह तो सर्व लौकिक कार्य है।” (पृष्ठ-122)

५. आगम और अध्यात्म की मैत्री-

जैन शास्त्र आगम और अध्यात्म -इन दो पद्धतियों की मुख्यता-गौणता के आधार पर दो प्रकार के देखे जाते हैं तथा उन दोनों की प्रतिपादन-शैली में भी कुछ अन्तर पाया जाता है, अतः बहुत-से लोग उसमें उलझ जाते हैं, उनको यथावत् समझकर उनकी सन्धि/मैत्री नहीं बैठा पाते। किन्तु मोक्षमार्गप्रकाशककार पं. टोडरमलजी तो स्याद्वाद-दृष्टि से इतने सम्पन्न हैं कि उन्हें इसमें कहीं कोई विरोध या उलझन नहीं दिखाई देती और इसीलिए वे आगम और अध्यात्म -दोनों की यथावत् उपयोगिता को समझने-समझाने में पूर्ण सफल हुए हैं।

इस बात का एक सबसे बड़ा उदाहरण यह है कि उन्होंने चार अनुयोगों का विवेचन करते समय किसी को भी किञ्चित् भी कमजोर नहीं होने दिया और सभी के महत्त्व का भलीभाँति प्रतिपादन किया।

दूसरा उदाहरण सातवें अधिकार का निश्चयाभासी-व्यवहाराभासी प्रकरण है जहाँ उन्होंने बड़ी ही कुशलतापूर्वक बारम्बार अनेक युक्तियों और दृष्टान्तों के माध्यम से निश्चय और व्यवहार -इन दोनों नयों की उपयोगिता को ऐसा रेखांकित किया है कि बड़े-बड़े विद्वान् भी आश्चर्यचकित रह जाते हैं।

इसके अतिरिक्त, आत्मा शुद्ध है या अशुद्ध, शास्त्रपठन करना चाहिए या नहीं, रागादि भाव आत्मा के हैं या नहीं, बाह्य संयम-तप धारण करना चाहिए या नहीं, प्रतिज्ञा ग्रहण करनी चाहिए या नहीं इत्यादि अनेकानेक विषय ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में ऐसे आये हैं जिनमें बड़े ही सन्तुलन और समन्वयपूर्ण दृष्टिकोण के आगमवत् दर्शन होते हैं और यही इस ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की सबसे बड़ी विशेषता है।

मैं तो आज भी उक्त विषयों के प्रतिपादन के समय अनेकानेक वक्ताओं को असंतुलित होकर खलित होते देखता हूँ और मुझे ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ की बड़ी महिमा आती है। काश, हम लोग उससे आगम का प्राणभूत गुण ‘संतुलन’ सीखें। संतुलन भी ऊटपटांग नहीं, किन्तु समुचित, पूर्णतः आगमसम्मत।

‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ के समुचित संतुलन का एक महत्त्वपूर्ण निदर्शन यह है कि उसमें विद्वत्ता और अध्यात्मरसिकता का भी मणिकांचन योग समुपस्थित किया गया है। प्रायः देखा जाता है कि जो लोग विद्वत्ता या पांडित्य में लग गये वे अध्यात्म को उपेक्षित कर देते हैं और जो लोग अध्यात्मरसिक बनते हैं, वे विविध शास्त्रों के ज्ञानार्जन को ही उपेक्षित कर बैठते हैं। परन्तु ‘मोक्षमार्गप्रकाशक’ में कदम-कदम पर इस विषय को उठाया गया है और बड़े ही संतुलित ढंग से यह समझाया गया है कि न्याय-व्याकरण आदि विविध शास्त्रों का ज्ञानार्जन करना ही चाहिए, वह बहुत आवश्यक और उपयोगी है, उसके बिना यथावत् अर्थ भासित नहीं

होता और जितना अधिक इनका जानना होगा, उतना ही तत्त्वज्ञान अधिक निर्मल होगा, किन्तु इनमें ही मत उलझे रह जाना अथवा अध्यात्मशास्त्रों की उपेक्षा मत कर देना।

इस सम्बन्ध में 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के कतिपय महत्त्वपूर्ण वाक्य ध्यानपूर्वक द्रष्टव्य हैं-

१. "यदि उसके व्याकरण-न्यायादिक तथा बड़े-बड़े जैन शास्त्रों का विशेष ज्ञान हो तो विशेष रूप से उसको वक्तापना शोभित हो। पुनश्च ऐसा भी हो, परन्तु अध्यात्मरस द्वारा यथार्थ अपने स्वरूप का अनुभव जिसको न हुआ हो वह जिनधर्म का मर्म नहीं जानता।" (पृष्ठ-16)

२. "यदि उसे कुछ व्याकरण-न्यायादिक का तथा बड़े जैनशास्त्रों की ज्ञान हो तो श्रोतापना विशेष शोभा देता है। तथा ऐसा भी श्रोता हो किन्तु उसे आत्मज्ञान न हुआ हो तो उपदेश का मर्म नहीं समझ सके, इसलिए जो आत्मज्ञान द्वारा स्वरूप का आस्वादी है वह जिनधर्म के रहस्य का श्रोता है।" (पृष्ठ-18)

३. "सामान्य जानने से विशेष जानना बलवान है। ज्यों-ज्यों विशेष जानता है त्यों-त्यों वस्तुस्वभाव निर्मल भासित होता है, श्रद्धान दृढ़ होता है, रागादि घटते हैं; इसलिए उस अभ्यास में प्रवर्तना योग्य है।" (पृष्ठ-294)

४. "तथा वह कहता है कि जिन शास्त्रों में अध्यात्म-उपदेश है उनका अभ्यास करना, अन्य शास्त्रों के अभ्यास से कोई सिद्धि नहीं है। उससे कहते हैं- यदि तेरे सच्ची दृष्टि हुई है तो सभी जैनशास्त्र कार्यकारी हैं। वहाँ भी मुख्यतः अध्यात्म-शास्त्रों में तो आत्मस्वरूप का मुख्य कथन है; सो सम्यग्दृष्टि होने पर आत्मस्वरूप का निर्णय तो हो चुका, तब तो ज्ञान की निर्मलता के अर्थ व उपयोग को मन्दकषायरूप रखने के अर्थ अन्य शास्त्रों का अभ्यास मुख्य चाहिए। तथा आत्मस्वरूप का निर्णय हुआ है, उसे स्पष्ट रखने के अर्थ अध्यात्म-शास्त्रों भी अभ्यास चाहिए; परन्तु अन्य शास्त्रों में अरुचि तो नहीं होना चाहिये। जिसको अन्य शास्त्रों की अरुचि है उसे अध्यात्म की रुचि सच्ची नहीं है।" (पृष्ठ-200)

५. "अच्छा ज्ञान होने के अर्थ शब्द-न्यायशास्त्रादिक को भी जानना चाहिए। इसलिए अपनी शक्ति के अनुसार सभी का थोड़ा या बहुत अभ्यास करना योग्य है।" (पृष्ठ-201)

६. "फिर वह कहता है- शास्त्र में ऐसा उपदेश है कि प्रयोजनभूत थोड़ा ही जानना कार्यकारी है, इसलिए बहुत विकल्प किसलिए करें? उत्तर- जो जीव अन्य बहुत जानते हैं और प्रयोजनभूत को नहीं जानते; अथवा जिनकी बहुत जानने की शक्ति नहीं, उन्हें यह उपदेश दिया है। तथा जिसकी बहुत जानने की शक्ति हो उससे तो यह नहीं कहा कि बहुत जानने से बुरा होगा? जितना बहुत जानेगा उतना प्रयोजनभूत जानना निर्मल होगा। क्योंकि शास्त्र में ऐसा कहा है- "सामान्यशास्त्रतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्।" इसका अर्थ यह है:- सामान्य शास्त्र से विशेष बलवान है। विशेष से ही अच्छी तरह निर्णय होता है, इसलिए विशेष जानना योग्य है।" (पृष्ठ-202)

७. "उनके (व्याकरण, न्याय, काव्यशास्त्र के) अभ्यास के बिना महान् ग्रन्थों का अर्थ खुलता नहीं है, इसलिए उनका भी अभ्यास करना योग्य है।" (पृष्ठ-231)

आशा है कि उक्त सभी कथनों को पढ़कर हमें “प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः” की भावना के अनुरूप विविध शास्त्रों के विद्वान् बनने की प्रेरणा भी प्राप्त होगी और साथ ही अध्यात्मरस से भी हमारा जीवन ओत-प्रोत बनेगा। विविध शास्त्रों की भी अन्तिम परिणति तो आखिर अध्यात्म में ही होती है न!

अन्त में, मैं अपनी बात को आचार्यकल्प पं. टोडरमलजी के ही निम्नलिखित कथन के साथ पूर्ण करना चाहता हूँ, क्योंकि उनके अद्भुत संतुलन का राज इसी में छुपा हुआ है-

“सर्व जिनमत का चिह्न स्याद्वाद है और ‘स्यात्’ पद का अर्थ कथंचित् है, इसलिए जो उपदेश हो उसे सर्वथा नहीं जान लेना। उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना कि यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजन सहित है, किस जीव को कार्यकारी है- इत्यादि विचार करके उसका यथार्थ अर्थ ग्रहण करे..... इसप्रकार स्याद्वाददृष्टि सहित जैनशास्त्रों का अभ्यास करने से अपना कल्याण होता है।”

(पृष्ठ-301)